Gyanshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2021 GISRRJ | Volume 4 | Issue 2 | ISSN : 2582-0095

सन्धि प्रकरण के पारिभाषिक शब्दों की समीक्षा

डॉ. सुभाषचन्द्र मीणा
सहायकाचार्य (व्याकरण विभाग)
केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय
क. जे. सोमैया परिसर, मुम्बई।

Article Info
Volume 4 Issue 2
Page Number : 113-122

Publication Issue :
March-April-2021

Article History
Accepted : 02 March 2021
Published : 15 March 2021

प्रस्तावना – सम् उपसर्ग पूर्वक 'धा' धातु से 'उपसर्गे घो कि' सूत्र से 'कि' प्रत्यय होने पर सन्धि शब्द की निष्पत्ति हुई है। सन्धि एक पुल्लिंग शब्द है। जिसका सामान्य अर्थ दो शब्दों के मेल को सन्धि कहते हैं। पाणिनि ने परः 'सन्निकर्षःसंहिता'[1] सूत्र की सहायता से बताया है कि वर्णों की अत्यधिक निकटता ही सन्धि होती है। धातु और उपसर्ग को जोडने पर दोनों के बीच सन्धि आवश्यक है, समास करने पर भी सन्धि करना अनिवार्य है लेकिन वाक्य बनाते समय सन्धि करे या न करें यह वक्ता की इच्छा पर है। लघुसिद्धान्त कौमुदी के अनुसार सन्धि स्वर, व्यंजन तथा विसर्ग के रुप में तीन प्रकार की होती है। तथा वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी के अनुसार सन्धि स्वर, व्यंजन, विसर्ग, प्रकृतिभाव तथा स्वादि के रुप में पाँच प्रकार की होती है। पाणिनीय अष्टाध्यायी में सन्धि प्रकरण के सूत्रों में निहित पारिभाषित शब्दों का प्रयोग किया गया है जो संज्ञा शब्द जिस अर्थ विशेष का द्योतक होता है उस विशेष अर्थ की प्रतिती इन पारिभाषिक संज्ञा शब्दों द्वारा होती है। यह पारिभाषिक शब्द महत्त्वपूर्ण है जिनके माध्यम से सन्धिकरण में निहीत अन्य सूत्रों की व्याख्या भी सरल एवं सुस्पष्ट रुप में दिखाई देती है। पारिभाषिक शब्द गागर में सागर भरने का काम करते हैं।

मुख्यशब्द – सन्धि , पारिभाषिक, श्ब्द, प्रत्यय,उपसर्ग,वर्ण,धातु अर्थ, पाणिनि।

अनल्विधि- 'अल्विधि' शब्द का अर्थ मात्र एक वर्ण से सम्बद्ध कार्य या एक वर्ण को निमित्त मानकर किया जाने वाला कार्य अल्विधि कहलाता है। 'अनल्विधि' पद का प्रयोग पाणिनि ने "स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ"[2] सूत्र में किया है। इस पद में मूल शब्द अनल्विधि इकारान्त पुल्लिंग सप्तमी विभक्त के एकवचन रुप है। 'अल्विधौ' शब्द में अर्थानुसार चार प्रकार से समास होता है क्रमशः –

1. अलः परस्य विधिः अल्विधिः, पंचमीतत्पुरुष समास।
2. अलः स्थाने विधिः अल्विधिः, षष्ठी तत्पुरुष समास।

Copyright: © the author(s), publisher and licensee Technoscience Academy. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution Non-Commercial License, which permits unrestricted non-commercial use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited

3. अलि विधिः अल्विधिः, सप्तमी तत्पुरुष समास।
4. अला विधिः अल्विधिः, तृतीया तत्पुरुष समास।

न अल्विधिः अनल्विधि। तस्मिन् अनल्विधौ, नञतत्पुरुष समास। पर को निमित्त मानकर अच् के स्थान पर हुआ जो आदेश वह पूर्व की विधि में स्थानिवत् होता है। काशिका विवरण पंजिका (न्यास) में जिनेन्द्र बुद्धि ने कहा है कि "आश्रयग्रहणेन सूत्रे योल्विधिशब्दः, सोलाश्रयो विधिरल्विधिरित्युत्तरपदलोपी समास इति दर्शयति। स पुनः समासो मयूरव्यंसकादित्वात् समासं कृत्वा नञसमासः कृतः अल्विधिरनल्विधिः इति। पुनरलाश्रयों विधी यो वर्णमात्राश्रितः यस्तु समुदायाश्रितः सोऽनलाश्रयः"[3]। वासुदेवदीक्षित ने कहा है कि "अलाश्रयो विधि अल्विधि अनल्विधिः"। अलाश्रयभिन्ने कार्ये कर्तव्ये इति प्रतीयमानोऽर्थः। अलाश्रयकार्ये कर्तव्ये स्थानिवन्न भवतीति फलितम्। अलाश्रयेति सामान्यवचनात् अला विधिः, अलः परस्य विधिः, अलो, विधि, अलि विधिश्चेति सर्वसंग्रह। "स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ" सूत्र के द्वारा अलाश्रित विधि का त्याग कर अन्यत्र स्थान पर आदेश स्थानिवत् होता है। स्थानिवत् आदेश 8 प्रकार का होता है क्रमश "तत्र आदेशाः अष्टधा भवन्ति धातु –अङ्ग-कृत-तद्धित-अव्यय-सुप, तिङ्-पदादेशः।"[4] तथा अनल्विधौ (अल् विधि को छोड़कर)अल्विधि पद में चार प्रकार से समास होता है इन चार दशाओं में अल् विधि होती है इनमें आदेश स्थानिवत् नहीं होता है।

1. अला विधि – यदि स्थानी अल् के द्वारा कोई विधि करनी हो तो आदेश स्थानिवत नहीं होता जैसे – व्यूढोकस्कः।
2. अलो विधि – यदि स्थानी अल् के स्थान पर कोई विधि करनी हो तो स्थानिवद् नहीं होता जैसे – द्युकामः।
3. अल विधि – यदि अल् के परे रहने पर उससे पूर्व कोई विधि करना हो तो आदेश स्थानिवत नहीं है जैसे – इष्टः।
4. अलो विधि - यदि स्थानी अल् से परे कोई विधि करनी हो तो आदेश स्थानिवत् नहीं होता है जैसे – दिवौ।

अतः अल् विधि होने के कारण उपरोक्त उदाहरणों में यहाँ स्थानिवद्भाव नहीं होता है। पाणिनि से उत्तरवर्ती आचार्य शर्ववर्मा ने कातन्त्र व्याकरण के "स्थानिवदादेशो ह्यवर्णविधौ"[5] सूत्र में अनल्विधि शब्द का प्रयोग किया है।

अन्तरतम - अन्तरतम शब्द का शाब्दिक अर्थ अत्यन्त समीप या अत्यन्त सजातीय होता है। वाचस्पत्यम् शब्दकोशानुसार शाब्दिक अर्थ क्रमशः – अतिशयेन अन्तरः सदृशः। अन्तरतम शब्द पुल्लिंग, स्त्रीलिंग, नपुंसलिंग तीनों लिंगों में प्रयुक्त होता है। इस शब्द से समीप्य या सजातीयता लक्षित होती है। अन्तरतम शब्द से सजातीयता लक्षित होने के कारण क्रमशः –

1. समान उच्चारण स्थान होने से।
2. एक ही अर्थ होने से।
3. समान गुणों के कारण।
4. एक विस्तार या आयाम वाला होने से।

पाणिनि ने अष्टाध्यायी के "स्थानेऽन्तरतमः"[6] सूत्र में 'अन्तरतम' शब्द का प्रयोग किया है। जिस के स्थान पर कोई कार्य होता है उसे स्थानी तथा जो कार्य होता है उसे आदेश कहते हैं। आदेश स्थानी के स्थान पर होता है। अतः आदेश को

शत्रुवत् कहा गया है। आदेश स्थानी को हटा कर उस के स्थान पर होता है। एक स्थानी के स्थान पर बहुत आदेशों की प्राप्ति होने पर "अन्तरतम" आदेश होता है।

अन्तरतमः शब्द में तमप् प्रत्यय का प्रयोग किया गया है। तमप् के प्रयोग का फल है कि सदृशों में भी अत्यधिक सदृश का ग्रहण हो। अत्यन्त सदृश वर्णों के सादृश्य के चार आधार है क्रमशः –

1. अर्थ के आधार पर।
2. स्थान के आधार पर।
3. गुण के आधार पर।
4. प्रमाण के आधार पर।

यथा – 'वाक् हसति' इस स्थिति में 'झयो होऽन्यतरस्याम्' सूत्र से हकार के स्थान पर विकल्प से पूर्व सवर्ण होता है।

यदि "अन्तरतमः" पद में तमप् प्रत्यय का प्रयोग नहीं किया जाता तो घोष यत्न के आधार पर गकार तथा महाप्राण यत्न के आधार पर सकार की प्राप्ति होती है परन्तु चतुर्थ वर्ण ही ऐसा वर्ण है जिसका हकार के साथ अत्यधिक सादृश्य है। इसी को आधार मानकर काशिकाकार ने भी "आन्तर्यं स्थानार्थगुणप्रमाणतः" चार प्रकार के आन्तर्य में स्थान कृत आन्तर्य को ही प्रामाणिक माना है।

टि- 'टि' यह अव्युत्पन्न सार्थक शब्द है क्योंकि इस पारिभाषिक संज्ञा शब्द की व्युत्पत्ति सम्भव नहीं है।

पाणिनि से पूर्ववर्ती वैदिककालीन प्रातिशाख्य आदि ग्रन्थों में 'टि' का प्रयोग नहीं मिलता है। काशकृत्स्नव्याकरण के "स्थूलदूरयुबह्वस्वक्षिप्रक्षुद्राणामन्त्यस्वरादेर्लोपो गुणश्च नामिनाम्"[7] सूत्र में 'टि' संज्ञा के लिए समानार्थक 'अन्त्यस्वादि' शब्द का प्रयोग किया है।

सूत्रकार पाणिनि ने अष्टाध्यायी में "अचोऽन्त्यादि टि" सूत्र से "टि" संज्ञा का विधान किया है। किसी समुदाय में अन्तिम स्वर को टि कहते हैं और अन्तिम स्वर के बाद कोई व्यंजन हो तो वह व्यंजन सहित अन्तिम टि कहलाता है। भट्टोजिदीक्षित ने कहा है कि "अचां मध्ये योऽन्त्यः स आदिर्यस्य तट्टिसंज्ञं स्यात्"[8] तथा ज्यादित्य और वामन ने कहा है कि – "अचां सन्निविष्टानां? योन्त्योऽडच् तदादि शब्दरुपं टि संज्ञं भवति। यथा 'दधि' इस उदाहरण में उपरोक्त सूत्र से 'धि' में विद्यमान इकार की टि संज्ञा होती है। इसके अतिरिक्त 'मनस्' यहाँ नकारोत्तरवर्ती अकार अन्तिम अच् है और यह है 'स' इसके आदि में अतः 'मनस्' में 'अस्' इस सम्पूर्ण समुदाय की टि संज्ञा होती है। 'टि' संज्ञा विधायक सूत्र के अतिरिक्त पाणिनि ने "टित आत्मनेपदानां टेरे" सूत्र से टि संज्ञक को एत्व आदेश हो जाता है अर्थात् टित् लकारों के तिप् आदि में एकत्व आदेश होता है। यथा – एधते (एध+त) उदाहरण में टि संज्ञक 'अ' को 'ए' आदेश हो जाता है।

पाणिनि के उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी 'टि' संज्ञा का विधान किया है क्रमशः – शर्ववर्मा ने कातन्त्र व्याकरण के "अव्ययसर्वनाम्नः स्वरादत्यात् पूर्वोऽक् कः"[9] इस सूत्र में टि संज्ञा के लिए 'अन्त्य स्वर' शब्द का प्रयोग किया है। बौद्धाचार्य चन्द्रगोमिन् ने चान्द्रव्याकरण के "इष्टेमयःस्वन्त्याजादेः" इस सूत्र में टि संज्ञा के स्थान पर अन्त्याजादि शब्द का प्रयोग किया है। मलयगिरि ने शब्दानुशासन के "अपदस्य अन्त्यस्वादेः ष्णुक्" सूत्र में टि संज्ञा के स्थान पर "अन्त्यस्वादि" शब्द का प्रयोग किया है। अनुभूतिस्वरुपाचार्य ने पाणिनि की तरह ही सारस्वत व्याकरण "अन्त्यस्वरादिष्टिः" सूत्र में टि संज्ञा का विधान किया है।

पद्मनाभदत्त ने सुपद्मव्याकरण में पाणिनीय व्याकरण की तरह "अचोऽन्त्यादि टि" सूत्र में टि संज्ञा का प्रतिपादन किया है। इन सभी के एतिरिक्त जीवगोस्वामी ने हरिनामामृतव्याकरण के अन्त्यसर्वेश्वरादिवर्णाः संसारसंज्ञाः सूत्र में टि संज्ञा के स्थान पर संसार संज्ञा का प्रतिपादन किया है।

आम्रेडित- आम्रेडित शब्द की व्युत्पत्ति "आम्रेड्यते स्म यत् तत् इति आम्रेडितम्" आ उपसर्ग पूर्वक उन्मादार्थक भ्वादिगणीय म्रेड् धातु से पाणिनीय व्याकरणानुसार "निष्ठा" सूत्र से भूतकाल अर्थ में क्त प्रत्यय का विधान होकर अनुबन्ध लोप तथा इट् आगम आदि कार्यों के होने पर "आम्रेडितम्" शब्द निष्पन्न होता है।

वैदिककालीन ग्रन्थों में आम्रेडित शब्द का प्रयोग किया गया है। वाजसनेयिप्रातिशाख्य के "द्विरुक्तमाम्रेडितं पदम्"[10] सूत्र में सर्वप्रथम आम्रेडित शब्द का प्रयोग मिलता है तथा आम्रेडित शब्द को पारिभाषित भी किया गया है। अथर्ववेदप्रातिशाख्य के "आम्रेडितसमासस्य" और "अनाम्रेडितान्याम्रेडितसदृशानि" इन दो सूत्रों में आम्रेडित शब्द का प्रयोग किया गया है किन्तु पारिभाषित नहीं किया गया। शौनकीय चतुराध्यायिका के "काम्याम्रेडितयोः" सूत्र में आम्रेडित संज्ञा का प्रयोग किया हैः क्रमशः – "आम्रेडित द्विस्त्रिरुक्तं कुत्सानिन्दे च गर्हणे"।[11] भगवान् पाणिनि ने अष्टाध्यायी के तस्य परमाम्रेडितम् सूत्र में आम्रेडित संज्ञा का प्रतिपादन किया है।

"द्विरुक्तं परमाम्रेडितम् स्यात्" वृत्ति में भट्टोजिदीक्षित ने इसको पारिभाषित किया है। शब्द को दो बार पढ़े जाने पर दूसरा रुप आम्रेडित कहलाता है। अर्थात् द्वित्व किए हुए के पर वाले शब्द की आम्रेडित संज्ञा होती है। जैसे – चोर-चौर यहाँ द्वितीय 'चौर' आम्रेडित है। काशिकाकार ने आम्रेडित के लिए कहा है कि "तस्य द्विरुक्तं यत्परं शब्दरुपं तदाम्रेडितसंज्ञं भवति "। तथा द्विरुक्तं के बाद वाले की आम्रेडित संज्ञा होने पर "आम्रेडितं भर्त्सने" सूत्र से भर्त्सन अर्थ में आम्रेडित संज्ञक शब्द की 'टि' को लुप्त होता है यथा – चौर-चौर उदाहरण में द्वितीय 'चौर' शब्द की आम्रेडित संज्ञा होती है तत्पश्चात् इसकी 'टि' को लुप्त व उदात्त होता है। वार्तिककार कात्यायन ने भी आम्रेडित शब्द का प्रयोग किया है। क्रमशः –

"उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु।
द्वितीयाम्रेडितान्तेषु ततोन्यत्रापि दृश्यते ।।"[12]

कारक प्रकरण में कात्यायन ने आम्रेडित शब्द का प्रयोग किया है। उभ, सर्व, धिक्, आम्रेडितान्त, (द्वित्व रुप में प्रयुक्त) इन शब्दों के योग में द्वितीया विभक्ति होती है। जैसे – 'अधोऽधो लोकम्' उदाहरण में अधो- अधो आम्रेडित है। इन आम्रेडित शब्दों के योग में द्वितीया विभक्ति होती है।

पाणिनि से उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी आम्रेडित शब्द का प्रयोग किया है। सारस्वत व्याकरण में अनुभूतिस्वरुपाचार्य ने अधोलिखित श्लोक में आम्रेडित शब्द का प्रयोग किया है।

"अभिसर्वकसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु।
द्वितीयाम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते ।।"[13]

हरिनामामृत व्याकरण में जीवगोस्वामी ने "आम्रेडितस्य संसारो भर्त्सने पर्यायेण" सूत्र में आम्रेडित शब्द का प्रयोग किया है।

प्रगृह्य - "प्रगृह्य" शब्द की व्युत्पत्ति "प्रगृह्यते यत् तद् इति प्रगृह्यम्। 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'ग्रह्' धातु से "पदास्वैरिवाह्यापक्ष्येषु च" सूत्र से 'क्यप्' प्रत्यय का विधान होता है। तत्पश्चात् अनुबन्धलोप कर तथा

"ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च"[14] सूत्र से धातु को सम्प्रसारण आदि कार्य होकर "प्रगृह्यम्" शब्द सिद्ध होता है।

वैदिक साहित्य में सर्वप्रथम वैदिककालीन व्याकरण ग्रन्थ ऋग्वेद प्रातिशाख्य के "ओंकार आमन्त्रितजः प्रगृह्य" और "अस्मे युष्मे त्वे अमी च प्रगृह्यः" सूत्रों में प्रगृह्य शब्द का प्रयोग मिलता है। तैत्तरीय प्रातिशाख्य के "अथ प्रग्रहाः" सूत्र में प्रगृह्य संज्ञा के स्थान पर सम्पूर्ण चतुर्थ अध्याय में प्रग्रह शब्द को अधिकार सूत्र मानकर उसके स्वरुप का प्रतिपादन किया गया है। वाजसनेयिप्रातिशाख्य के "प्रगृह्य", "एकारेकारोकारा" और "ओकारश्च पदान्तेनवग्रहः" सूत्रों में प्रगृह्य संज्ञा का विधान किया गया है और अथर्ववेद प्रातिशाख्य के "ते प्रगृतेमध्ये भूतादिभ्यः परिरुत्तरपदमादियुदात्तम्"[15] सूत्र में प्रगृह्य संज्ञा का प्रतिपादन किया गया है।

पौराणिक साहित्य अग्नि पुराण के एक श्लोक में प्रग्रह्य शब्द का प्रयोग किया गया है क्रमशः –

"आङीषदर्थेऽभिव्याप्तौ सीमार्थे धातुयोगजे।

आ प्रगृह्यः स्मृतौ वाक्येऽप्यस्तु स्यात् कोपपीडयोः ॥"[16]

सूत्रकार पाणिनि ने अष्टाध्यायी के आठ (8) सूत्रों में प्रगृह्य संज्ञा का विधान किया है। क्रमशः –

"ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्" सूत्र से दीर्घ ईकारान्त, दीर्घ ऊकारान्त तथा दीर्घ एकारान्त द्विवचन की प्रगृह्यसंज्ञा होती है। जयादित्य और वामन ने कहा है कि "ईदुदेदित्येवमन्तं द्विवचनं शब्दरुपं प्रगृह्यसंज्ञं भवति।"[17] जैसे – 'हरि एतौ' उदाहरण में रेफोत्तर ईकार ईदन्त द्विवचन है इसकी उपरोक्त सूत्र से प्रगृह्य संज्ञा होकर "प्लुतप्रगृह्याचि नित्यम्" सूत्र से प्रकृति भाव होता है। इसी तरह 'अग्नि', वायु और 'माले' शब्दों में क्रमशः ईदन्त, उदन्त और एदन्त की प्रगृह्य संज्ञा हो जाती है।

"अदसो मात्" सूत्र से 'अदस्' शब्द के मकार से परे 'ईत्' तथा 'ऊत' प्रगृह्य संज्ञक होते है। भट्टोजिदीक्षित ने कहा है "अस्मात्परावीदूतौ प्रगृह्यौ स्तः।" जैसे – अमी ईशाः, अमू आसाते उदाहरणों में मकारोत्तरवर्ती ईकार और ऊकार उपरोक्त सूत्र के द्वारा प्रगृह्यसंज्ञक होकर "प्लुतप्रगृह्याति नित्यम्" सूत्र से प्रकृति भाव हो जाता है।

'शे' 'शे' सूत्र से इस सुबादेश की प्रगृह्यसंज्ञा होती है। संहिताओं में चतुर्थी बहुवचन के स्थान पर 'शे' का विधान किया गया है। काशिका वृत्ति में कहा गया है कि "शे इत्येतत् प्रगृह्यसंज्ञं भवति" जैसे – 'त्वे इति' उदाहरण में "सुपां सुलुकऽ: सूत्र के द्वारा चतुर्थी के स्थान पर 'शे' आदेश होकर उपरोक्त सूत्र के द्वारा प्रगृह्य संज्ञा होकर प्रकृति भाव होता है।

"निपात एकाजनाङ्" सूत्र से 'आङ्' को छोड़कर एक 'अच्' स्वरुप निपात की 'प्रगृह्यसंज्ञा' होती है। भट्टोजिदीक्षित ने कहा है कि "एकोऽज्निपात आङ्वर्जः प्रगृह्यः स्यात्" और काशिकाकार ने कहा है कि – "एकश्च असावच्च एकाच् निपातो य एकाचाङ्वर्जितः स प्रगृह्यसंज्ञो भवति।" इस सबके अतिरिक्त भाष्यकार पतंजलि ने एक श्लोक में कहा है कि –

"ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाऽभिविधौ च यः।

एतमातं ङित्तं विद्यात् वाक्यस्मरणयोरङित्॥"[18]

ईषत् अर्थ में, क्रियायोग में, मर्यादा तथा अभिविधि अर्थ में आत् को ङित् समझे तथा स्मरण अर्थ में प्रयुक्त आ को अङित् समझना चाहिए। जैसे – 'इ इन्द्रम्' में इ एकाच् निपात है सूत्र से अतः उपरोक्त सूत्र से प्रगृह्य संज्ञा होकर प्रकृति भाव हो जाता है।

"ओत्" ओकार निपात की प्रगृह्य संज्ञा होती है। काशिकाकार ने कहा है कि "निपातः इति वर्तते। लस्य औकारेण तदन्तविधिः। औदन्तो यो निपात स प्रगृह्य संज्ञो भवति" जैसे – 'अहो ईशा' उदाहरण में "चादयोऽसत्वे" सूत्र से निपात संज्ञा होकर उपरोक्त सूत्र से प्रगृह्या संज्ञा होकर प्रकृतिभाव हो जाता है।

"सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे" सूत्र से सम्बुद्धिनिमित्तक ओकार की अवैदिक 'इति' शब्द के परे रहते विकल्प से प्रगृह्य संज्ञा होती है। काशिकाकार ने कहा है कि – "ओविति वर्तते। सम्बुद्धिनिमित्तो य ओकारः स शाकल्यस्य आचार्यस्य मतेन प्रगृह्यसंज्ञो भवति, इति शब्दे अनार्षे अवैदिकपरतः।" जैसे – 'विष्णो इति' उदाहरण में 'विष्णो' शब्द की 'एकवचनं सम्बुद्धि' सूत्र से सम्बुद्धि संज्ञा होकर उपरोक्त सूत्र से प्रगृह्य संज्ञा होकर प्रकृतिभाव होता है।

"उञःऊँ" सूत्र से अवैदिक 'इति' शब्द परे रहते शाकल्य आचार्य के मत में उञ् की प्रगृह्य संज्ञा होती है। उञ् के स्थान पर ऊँ आदेश होता है जो प्रगृह्य संज्ञक होता है। काशिकाकार ने कहा है कि "ऊञः इति वर्तते। उञः एतावनार्षे ऊं एत्ययमादेशो भवति दीर्घोऽनुनासिकश्च, शाकल्यस्य मतेन प्रगृह्यसंज्ञकश्च" और "शाकल्यस्यैतौ अनार्षे इति। उञः प्रगृह्य संज्ञा भवति। इतौ शाकल्यस्य आचार्यस्य मतेन।" जैसे – 'उ इति' इस स्थिति में उपरोक्त सूत्र से प्रगृह्य संज्ञा होकर प्रकृतिभाव तथा 'ऊँ' आदेश होकर 'ऊँ इति' शब्द सिद्ध होता है।

"ईदूतौ च सप्तम्यर्थे"[19] सूत्र से सप्तमी के अर्थ में ईकारान्त व ऊकारान्त की प्रगृह्य संज्ञा होती है। काशिकाकार ने कहा है कि "शाक्ल्यस्यैतावनार्षे इति निवृत्तम्। ईदन्तम् ऊदन्तं च शब्दरुपं सप्तम्यर्थे वर्तमानं प्रगृह्यसंज्ञं भवति।" जैसे – 'तनू इति' इस दशा में यहाँ ऊकारान्त पद है। उपरोक्त सूत्र से प्रगृह्य संज्ञा होकर और प्रकृतिभाव होकर "तनू इति" शब्द सिद्ध होता है।

पाणिनि से उत्तरवर्ती आचार्यों में जैनाचार्य देवनन्दी ने जैनेन्द्रव्याकरण के "ईदूदेद् द्विर्दिः" और 'दम' सूत्रों में प्रगृह्य संज्ञा के स्थान पर "दि" संज्ञा का विधान किया है। तथा अनुभूतिस्वरुपाचार्य ने सरस्वती कण्ठाभरणम् के "ईदूदेद्विवचनं प्रगृह्यम्" सूत्र से प्रगृह्य संज्ञा का प्रतिपादन किया है।

उदुपध- 'उदुपधस्य' शब्द का अर्थ है कि जिसकी उपधा में ह्रस्व उकार हो उसे उदुपध कहते है। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में 'उदुपधस्य' शब्द का प्रयोग 'इदुदुपधस्य चाऽप्रत्ययस्य'[20] सूत्र में किया है। इकार और उकार है उपधा में जिसके ऐसे प्रत्यय भिन्न समुदाय के विसर्जनीय को षकार होता है, क वर्ग या प वर्ग परे रहते। इसी को आधार मानकर ज्ञानेन्द्र सरस्वती ने अपनी टीका में कहा है कि "इह इदुतौ उपधे यस्य समुदायस्य तस्यावयवो यो विसर्ग इति वैयधिकरण्येन सम्बन्धः।" जैसे 'दुस्-कृतम्' दुः+कृतम् इस दशा में 'दुस्' की उपधा में उकार विद्यमान है। अतः उपरोक्त सूत्र से उदुपध उकार के पश्चात् विसर्ग को षकार होकर "दुष्कृतम्" शब्द सिद्ध होता है।

कुक्- 'कुक्' एक आगम है। "ङणोः कुक् टुक् शरि" सूत्र में पाणिनि के द्वारा 'कुक्' शब्द का प्रयोग किया गया है। संहिता के विषय में शर् परे रहते ङकार को कुक् का आगम होता है। 'कुक्' प्रत्यय के ककार की इत् संज्ञा होती है। 'कुक्' एक अन्तावयव भी है। वासुदेवदीक्षित ने कहा है कि "कुक् च टुक् चेति समाहारद्वन्द्वः। आगमाविति। एतच्च आद्यन्तौ टकिताविति लक्ष्य यथासङ्ख्यपरिभाषया च ङकारस्य कुक् इति" जैसे 'प्राङ्+षष्ठः' इस दशा में "आद्यन्तौ टकितो" सूत्र से टित् होने के कारण उपरोक्त सूत्र से प्राङ् के परे प्रत्यय का आमग हो अनुबन्धलोपादि कार्य होकर 'प्राङ्क्षष्ठ' इत्यादि शब्द सिद्ध होते हैं।

पाणिनि ने अन्य सूत्रों में भी 'कुक्' शब्द का प्रयोग किया है। क्रमशः "वातातीसाराभ्यां कुक् च" सूत्र से मत्वर्थ में प्रथमा समर्थ वात तथा अतीसार शब्दों से 'इनि" प्रत्यय का विधान होता है तथा प्रकृति को 'कुक्' आगम भी होता है। जैसे

'वात+इनि' इस दशा में उपरोक्त सूत्र से 'वात' के परे 'कुक्' प्रत्यय का आगम होकर अनुबन्धलोपादि कार्य होकर 'वातकी' शब्द सिद्ध होता है। पाणिनि ने एक और सूत्र "नडादीनां कुक् च" सूत्र में 'कुक्' शब्द का प्रयोग किया है। नडादिगण पठित शब्दों से चातुरर्थिक 'छ' प्रत्यय तथा 'कुक्' प्रत्यय का आगम होता है। इसी पर वासुदेवदीक्षित ने कहा है कि "नडादीनां कुक्च । नाडादिभ्यछः स्याच्चातुरर्थिकः प्रकृतेः कुक्च ।" जैसे 'नड+छ' इस दशा में उपरोक्त सूत्र से 'कुक्' आगम होकर अनुबन्ध लोपादि कार्य होकर "नडकीयम्" इत्यादि शब्द सिद्ध होते है।

कस्कादि - पाणिनीय व्याकरण में शब्दों का एक समुह जिसमें आदि शब्द 'कस्क' हों तथा शेष अन्य शब्द हो तो आदि शब्द के आधार पर इसे 'कस्कादि' कहते हैं। पाणिनि ने कस्कादि शब्द का प्रयोग "कस्कादिषु च" सूत्र में किया है। संहिता के विषय में इण् प्रत्याहार के वर्ण से उत्तर कस्कादि गणपठित शब्दों के विसर्ग के स्थान पर षकार होता है। 'कस्कादि' शब्दों का सूत्र में पठन करने की अपेक्षा सवतन्त्ररुपेण गण के रुप में पाठ किया गया है। 'कस्कादि' शब्द क्रमशः –

'कस्कः कौतस्कुतः भ्रातुष्पुत्रः शनुस्कर्ण सद्यस्कालः सद्यस्क्रीः साद्यस्क्रः कांस्कान् सर्पिष्कुण्डिका धनुष्कपालम् बहिष्पलम् यजुष्पात्रम् अयस्कान्तः तमस्कान्तः तमस्काण्डः अयस्काण्डः मेदस्पिण्डः भास्करः अहस्करः इति कस्कादिराकृतिगणः ।।'[21] यह सभी कस्कादि गणपाठ में पठित शब्द हैं। यथा – कस्कः (कः+क!), सद्यस्कालः (सद्यः+काल)

विसर्जनीय शब्द की 'व्युत्पत्ति विशेषण सृज्यते इति' अथवा "वि सृज्यते इति विसर्जनीयः"। 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'सृज्' धातु से पाणिनीय व्याकरणानुसार "तव्यत्तव्यानीयरः" सूत्र से 'अनीयर्' प्रत्यय का विधान होता है। तत्पश्चात् अनुबन्धलोप "आदुणः" सूत्र से गुणादेश होकर "विसर्जनीयः" शब्द सिद्ध होता है।

संस्कृत वाङ्मय में 'विसर्जनीय' शब्द का प्रयोग अनेक स्थानों पर मिलता है। वैदिककालीन व्याकरण ग्रन्थ ऋग्वेदप्रातिशाख्य के "पूर्वस्यानुस्वारविसर्जनीयौ" सूत्र में सर्वप्रथम 'विसर्जनीय' शब्द का प्रयोग किया गया है। तैत्तरीयप्रातिशाख्य के "ऊष्म विसर्जनीय प्रथमद्वितीया अघोषाः"[22] सूत्र में विसर्जनीय शब्द का प्रयोग 'विसर्जनीय' संज्ञा के रुप में किया गया है। शर्ववर्मा ने "अः इति विसर्जनीयः" सूत्र में विसर्जनीय संज्ञा का विधान किया है। बौद्धाचार्य चन्द्रगोमिन् ने "विरामे विसर्जनीयः" सूत्र से रेफ को विसर्ग का विधान होता है। अनुभूतिस्वरुपाचार्य ने सारस्वत व्याकरण में तथा भोजदेव ने सरस्वती कण्ठाभरणम् में "अः इति विसर्जनीयः" सूत्र से रेफ का विसर्ग होकर विसर्जनीय संज्ञा का विधान किया है। बोपदेव ने "अं अः नुवी" सूत्र में विसर्जनीय के स्थान पर 'वि' संज्ञा का विधान किया है। जीवगोस्वामी ने हरिनामामृतव्याकरण में विसर्ग के स्थानपर "विष्णु" संज्ञा का विधान किया है।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य के "अ इति विसर्जनीयः" सूत्र में विसर्जनीय संज्ञा का प्रतिपादन किया गया है। तथा इन सबके अतिरिक्त ऋग्वेद प्रातिशाख्य के "कण्ठ्योकारः प्रथमपंचमौ च द्वावूष्माणौ केचिदेतावुरस्यौ"[23] सूत्र में विसर्जनीय को वक्ष से उत्पन्न मानते है तथा कहा भी है कि "उरसि विसर्जनीयो वा ।।" अथर्ववेद प्रातिशाख्य के "संहितायां विसर्जनीयस्य" सूत्र में विसर्जनीय शब्द का प्रयोग हुआ है। पुष्पतन्त्र व्याकरण के "दादिर्विसर्जनीयात्" सूत्र में विसर्जनीय शब्द का विधान हुआ है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के "वेद्या विसर्जनीयो विद्यास्थास्थितो वर्ण"[24] श्लोक में विसर्जनीय शब्द का वर्णन मिलता है।

भगवान् पाणिनि ने अष्टाध्यायी में "खरवसानयोर्विसर्जनीयः" सूत्र से विसर्ग का विधान किया है। संहिता के विषय में खर् प्रत्याहार परे रहते अवसान में रेफान्त पद को विसर्जनीय होता है। अर्थात् ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, व, क, प, य, श, ष और स इन सभी वर्णों से परे रहने पर रेफ को विसर्जनीय हो जाता है। जैसे "बालः" (बालस् बालर्) इस दशा में बाल+र् के रकार

को उपरोक्त सूत्र से विसर्जनीय (:) आदेश होकर बालः शब्द सिद्ध होता है। पाणिनि ने अनेक सूत्रों में विसर्जनीय शब्द का प्रयोग किया है।

साहित्य शास्त्र में महाकवि कालिदास ने रघुवंश के एक श्लोक में विसर्जनीय शब्द का प्रयोग किया है क्रमशः –

"श्रुतदेह विसर्जनः पितृश्चिरमश्रूणि विमुच्य राघवः।

विदधे विधिमय नैश्ठिकं यतिभिः सार्धमनाविनमग्निचिता।।"[25]

पौराणिक साहित्य भागवतपुराण के भी "विसर्ज्जनाः कुकुराः कुन्तयश्च मिथस्तु जघ्नुः सुविसृज्य सौहृदम्" और "त्वया सृष्टमिदं विश्वं धातुर्गुणविसर्ज्जनम्" श्लोकों में विसर्जनीय शब्द का प्रयोग हुआ है।

कार्य- 'कार्य' शब्द की व्युत्पत्ति क्रियते यत् तत् इति कार्यम्। 'कृ' धातु से "विभाषा कृवृषो" सूत्र से विकल्प से 'क्यप्' तथा 'ऋहलोर्ण्यत्' सूत्र से 'ण्यत्' प्रत्यय का विधान होता है। तत्पश्चात् अनुबन्धलोप वृद्धि आदि कार्य होकर "कार्यम्" शब्द सिद्ध होता है।

संस्कृत वाङ्मय में अनेक स्थानों पर 'कार्यम्' शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। वैदिककालीन व्याकरण ग्रन्थ ऋक्प्रातिशाख्य के "एके वर्णान् शाश्वतिकान् न कार्यान्" और "कार्य एत्वे समयीकारमाहुः अमैष्म इत्येतस्य स्थाने ञभयीष्मेति" सूत्रों में कार्य शब्द को पारिभाषित किया है। जो किये जाने योग्य है यह कार्य है। वह व्याकरण सम्बन्धी कार्यों के लिए प्रयुक्त होता है।

"विप्रतिषेधे परं कार्यम्" सूत्र में पाणिनि के द्वारा 'कार्यम्' शब्द का प्रयोग किया है। तुल्य बल वालों का विरोध होने पर बाद वाला कार्य होता है। इसी को आधार मानकर काशिकाकार ने भी कहा है कि "स तुल्यबलविरोधो विप्रतिषेधः। तस्मिन् विप्रतिषेधे परं कार्य भवति।" जैसे वृक्ष+भ्यस इस स्थिति में 'सुपि च' सूत्र से दीर्घ तथा "बहुवचने झल्येत्" सूत्र से 'एत्' आदेश की प्राप्ति होती है। अतः यहाँ दोनों सूत्रों की समकाल प्राप्ति होने पर तुल्यबल विरोध होता है। अतः उपरोक्त सूत्र के द्वारा पर कार्य एत्व होकर "वृक्षेभ्यः" शब्द सिद्ध होता है।

अन्य आचार्यों यथा कात्यायन ने "न तु च यस्यापि कार्याः तस्यापि पूजार्थम्" इस वार्तिक में कार्य को पारिभाषित किया है तथा ऋक्तन्त्र व्याकरण और शाकटायन व्याकरण में सकर्मक क्रिया का ही कार्य हो, कथन कहकर "शेषः कार्यम्" सूत्र का प्रयोग किया है। इस तरह किसी क्रिया के द्वारा अस्तित्व में लाया गया शब्द ही कार्य है।

असिद्ध - असिद्ध शब्द की व्युत्पत्ति 'न सिद्धम् इति असिद्धम्।' यहाँ "नञ्" सूत्र से नञ् तत्पुरुष समास होता है। असिद्ध शब्द का शाब्दिक अर्थ है असमर्थ, अशक्त पाणिनि ने 'असिद्ध' शब्द का प्रयोग "पूर्वत्रासिद्धम्" "असिद्धवदत्राभात्" और "षत्वतुकोरसिद्धः" इन तीनों स्थितियों में किया है। क्रमशः-

"पूर्वत्रासिद्धम्" सूत्र से आशय है कि सवा सात अध्यायों के प्रति त्रिपादी सूत्र असिद्ध होते हैं तथा त्रिपादी में भी प्रत्येक सूत्र अपने से पूर्व आए हुए के प्रति असिद्ध होता है। यहाँ सूत्र में 'असिद्ध' ग्रहण करने का प्रयोजन न होना या तत् तत् सूत्र की दृष्टि में वह कार्य नहीं हुआ होने से है। भट्टोजिदीक्षित ने बी कहा है कि – "सपादसप्ताध्यायी प्रति त्रिपाद्यसिद्धा त्रिपाद्यामपि पूर्व प्रति परं शास्त्रमसिद्धं स्थात्"[26] वृत्ति से आशय है कि अष्टाध्यायी में आठ अध्याय है प्रत्येक में 4 पाद है। पूर्व सात अध्याय और आठवें अध्याय का एक पाद इसे सपाद सप्ताध्यायी कहते हैं तथा शेष तीन पादों को त्रिपादी कहते है। जैसे – अग्ने आगच्छ इस दशा में अग्ने के एकार को अय् आदेश होकर तत्पश्चात् यकार का लोप "लोपः शाकल्यस्य" सूत्र से हो जाता है "अग्न आगच्छ"

इस दशा में 'न' में स्थित अकार तथा "आगच्छ" के आकार में सवर्ण दीर्घ की प्राप्ति "अकः सवर्णे दीर्घः" सूत्र से होती है, किन्तु दीर्घ विधायक सूत्र की दृष्टि में वह यकार लोप असिद्ध 'न हुआ' के समान मान लिया जाता है। अतः सवर्ण दीर्घ की प्रवृत्ति नहीं होती है।

"असिद्धवदत्राभात्" एक ही निमित्त है जिनका उन्हें समानाश्रय कहते है। किसी आश्रय को लेकर यदि कोई आभीय कार्य हो चुका हो तो पुनः उसी आश्रय को लेकर होने वाले दूसरे आभीय कार्य की दृष्टी में प्रथम आभीय कार्य असिद्ध होता है। जैसे – "हन् सिप्" इस दशा में "अदिप्रभृतिभ्यः शपः" सूत्र से शप् आगम होकर और "सेर्ह्यपिच्च" सूत्र से सि को हि होकर तथा "हन्तेर्जः" सूत्र से हन् को ज आदेश होता है। तत्पश्चात् "अतो हेः" सूत्र से हि का लोप प्राप्त होता है। चूँकि हि का आश्रय करके 'हन्' धातु को ज आदेश हुआ है तथा इसी 'हि' को आश्रय करके 'हि' का लोप प्राप्त होता है अतः हि लुक् की दृष्टि में जादेश असिद्ध है। अतः लुक् न होकर "जहि" शब्द बनता है।

"षत्वतुकोरसिद्धः" सूत्र से षत्व तथा तुक् विधि करने में एकादेश असिद्ध होता है। जैसे 'कोऽसिचत्' उदाहरण मे इण् से परे 'स्' को षत्व प्राप्त होता है परन्तु प्रकृत सूत्र के द्वारा षत्वविधि में यह एकादेश 'ओ' असिद्ध है तब षत्व नहीं होगा।

पाणिनि के कथन की व्याख्या करते हुए काशिकाकार ने "असिद्धवचनमुत्सर्गलक्षणभावार्थम् आदेशलक्षणप्रतिषेधार्थ च"[27] कहा है कि 'असिद्ध' पद का प्रयोग ऐसी स्थितियों के लिए भी किया जाता है जब कोई कार्य वास्तविकता में तो हो चुका है पर किसी अन्य कार्य की प्राप्ति में उसे 'न हुआ' जैसा माना जाता है। पाणिनीय व्याकरण में सामान्यता पूर्व स्थित नियम की अपेक्षा बाद में स्थित नियम बलवान् होता है। यह नियम "पूर्वपरनित्यान्तरङ्गापवादामुत्तरोत्तरं बलीयः" परिभाषा में नागेश भट्ट ने स्पष्ट किया है किन्तु कहीं-कहीं विशेष परिस्थितियों में इस नियम से अनिष्टापत्ति होने की स्थिति बन जाती है अतः असिद्धत्व नियम से उस अनिष्टापत्ति को रोक लिया जाता है। नागेश भट्ट ने "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" परिभाषा में असिद्ध शब्द का प्रयोजन अन्तरङ्ग कार्य के प्रसक्त होने पर बहिरङ्ग कार्य असिद्ध होते है, दिया है।

इस प्रकार सन्धि प्रकरण में प्रयुक्त हुए विभिन्न पारिभाषिक शब्दों की समीक्षा की गयी है।

संदर्भग्रन्थसूची –

1. अष्टाध्यायी
2. पाणिनी सूत्र 1-1-56
3. का. वि. प. – 1-1-55
4. सिद्धान्त कौमुदी – 1-1-56
5. का. व्या. – 39
6. लघुसिद्धान्त कौमुदी (अच् सन्धि)
7. काशकृत्स्नव्याकरण
8. सिद्धान्त कौमुदी सूत्र – 39
9. काशकृत्स्नव्याकरण
10. वा. प्रा. 1 / 146
11. अ. पु. – 360 / 63

12. सिद्धान्त कौमुदी (वा. 1444)
13. ह. ना. – 85 सूत्र
14. अष्टाध्यायी – 6-1-16
15. अथर्व. प्रा – 2.3.10
16. अग्निपुराण – 361 / 1
17. काशिकावृत्ति – 1.1.11
18. महाभाष्यम् - 1-1-14
19. अष्टाध्यायी – 1-1-19
20. अष्टाध्यायी – 8-3-41
21. काशिकावृत्ति – 8-3-48
22. तैत्तरीयप्रातिशाख्य – 1.1.12
23. ऋग्वेद प्रातिशाख्य – 1.18
24. भरतमुनि – 1.23
25. रघुवंशे – 8 / 25
26. सिद्धान्तकौमुदी 8 / 2 / 1
27. काशिकावृत्ति – 6.4.22